नवंबर १९९४ हिंदी पत्रिका में प्रकाशित

बुद्ध और बिम्बिसार

अभागा राजकुमार जयसेन

हम नहीं जानते कि महाराज बिम्बिसार के रनवासमें कुलकितनी रानियां थीं, और उनकी कुलकितनी संतान थीं। परंतु यह अनुमान कर सकते हैं कि उन दिनों के राजघरानों की प्रचलित परंपरा के कारण और भगवान बुद्ध के संपर्क में आने के पूर्व, अपनी युवावस्था में अत्यंत कामलोलुप होने के कारण बिम्बिसार की अनेक रानीयां और उनसे उत्पन्न अनेक संतान रही होंगी।

पुरातन वाङमय में बिम्बिसार के एक अन्य पुत्र, राजकुमार जयसेन का नाम हमारे सामने उभर कर आता है। हम उसकी माता का नाम नहीं जानते। परंतु देखते हैं कि उसका 'भूमिज' नामका एक मामा भगवान बुद्ध के संपर्क में आकर उनके भिक्षुसंघ में प्रव्रजित हो गया था। साथ-साथ यह भी देखते हैं कि पिता बिम्बिसार और मामा भूमिज भगवान बुद्ध की शिक्षा से अत्यंत लाभान्वित हुए परंतु राजकुमार जयसेन इस लाभ से वंचित ही रह गया। वह भगवान बुद्ध से मिला भी हो, ऐसा कोई प्रसंग हमारे सामने नहीं आता। इसका एक कारण तो यह हो सकता है कि राजपुत्र होने के कारण सतत कामभोग में लिप्त रहनेवाला व्यक्ति सद्धर्म की निष्कामता भरी शिक्षाओं से दूर ही रहना चाहता हो। ऐसी शिक्षा उसके लिए जराभी रुचिकर न हो। दूसरा कारण यह हो सकता है कि राजघराने में प्रवेश पानेवाले अन्य अनेक धर्मगुरुओं में से किसी ऐसे के प्रति उसकी अंधश्रद्धा जाग गयी हो, जो कि भगवान बुद्ध के प्रति विरोधीभाव रखता हो। अथवा यह भी हो सकता है कि यह दोनों ही कारण उसके जीवन से जुड़ गये हों।

उन दिनों भगवान बुद्ध महाराज बिम्बिसार द्वारा दान में दिये गये वेणुवन कलन्दक निवापमें विहार कर रहे थे। परंतु राजकुमार जयसेन न स्वयं भगवान बुद्ध से मिला और न ही उनके किसी प्रमुख शिष्य से। हो सकता है कि उसके गुरु ने उसे यह मिथ्या बात समझा रखी हो कि श्रमण गौतम मायावी है, और वह ऐसी आवर्तनी-विद्या जानता है, जिससे कि मिलने वाले को अपनी ओर मोड़ कर अपना शिष्य बना लेता है। इस कारण राजकुमार जयसेन भगवान बुद्ध से कतराता रहा हो। तभी हम देखते हैं कि स्वयं भगवान बुद्ध से न मिलकर एक दिन टहलता हुआ श्रमणोद्देश अचिरवत से मिलने के लिए नगर के समीप उस अरण्य में चला गया, जहां कि वह एक कुटिया में निवास करता था। श्रमणोद्देश उसे कहते हैं, जो कि श्रमण बनने के उद्देश्य से श्रमणवेष धारण करके श्रमण-जीवन जीने का प्रारंभिक अभ्यास करता है। उसे श्रामणेर भी कहते हैं। अचिरवत को श्रामणेर हुए अभी थोड़े ही दिन बीते थे। शायद इसीलिए उसे अचिरवत कहा गया हो। श्रामणेर अचिरवत भगवान से सुनी हुई धर्मवाणी कंठस्थ कर रहा था, और उसे अपने अनुभव पर उतारने का प्रयत्न-प्रयास कर रहा था।

राजकुमार जयसेन श्रामणेर के पास गया और कुशलक्षेम पूछकर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठकर उसने श्रामणेर से बातचीत शुरु की।

लगता है राजकुमार जयसेन श्रामणेर अचिरवत को पहले से जानता था। इसीलिए वह उसे श्रमण या श्रामणेर कहकर संबोधित नहीं करता, बल्कि 'अग्निवेश' कहकर उसके नाम से पुकारता है। उन दिनों किसी एक संप्रदाय के संन्यासी अग्निवेश के नाम से पुकारे जाते थे। हो सकता है यह श्रामणेर पहले उस संप्रदाय का संन्यासी रहा हो, और जयसेन उसे तब से जानता रहा हो। इसीलिए उसे इस नाम से पुकारता है।

अग्निवेश्यायन उन दिनों के ब्राह्मणों का एक गोत्र भी था, जिसे कि कुछएक क्षत्रियों ने भी अपना लिया था। अतः यह भी संभव है कि यह श्रामणेर उसी गोत्र के किसी ब्राह्मण या क्षत्रिय कुल से प्रव्रजित हुआ हो और इसलिए राजकुमार उसे अग्निवेश के नाम से पुकारता हो। आगे चलकर हम देखते हैं कि स्वयं भगवान बुद्ध भी इस श्रामणेर को अग्निवेश **(अग्गिवेस्सन)** के नाम से ही संबोधन करते हैं।

जो भी हो, राजकुमार ने वार्तालाप आरंभ करते हुए कहा –

"अग्निवेश, मैंने सुना है कि कोई भिक्षु, प्रमादरहित, संयम का जीवन जीता हुआ, प्रयत्नशील होता है, तो नितांत चित्त-एकाग्रता की अवस्था प्राप्त कर लेता है। क्या यह सच है?"

अग्निवेश ने उत्तर दिया –

"हां, यह बिल्कुल सच है।"

उन दिनों ऐसे भी आचार्य थे, जो यह मानते थे कि चित्त-एकाग्रता की नितांत निर्वितर्क, निर्विचार अवस्था, किसी भी हालत में उपलब्ध नहीं की जा सकती। हो सकता है जयसेन का गुरु भी इसी मान्यता का मानने वाला हो। अथवा यह भी हो सकता है कि स्वयं अपने चंचल चित्त को, कभी क्षणभर के लिए भी निर्विचार होते न देखकर उसने भी यही मान रखा हो कि, वस्तुतः चित्त कभी एकाग्र नहीं हो सकता।

अतः उत्सुकतावश उसने यह जानना चाहा कि भगवान बुद्ध की शिक्षा में क्या चित्त सचमुच एकाग्र होता है? जब उत्तर हां में मिला तो उसने निवेदन किया –"अग्निवेश, चित्त को निर्विचार कर देने वाले इस धर्म को तुमने जिस प्रकार भी सुना और समझा है, वह मुझे बताओ।"

लगता है, श्रामणेर अग्निवेश को भी राजकुमार जयसेन का पूर्वपरिचय था। इसलिए जानता था कि वह भगवान बुद्ध और उनकी शिक्षा के प्रति अत्यंत शंकालु है, और श्रद्धाशून्य भी। अतः उससे व्यर्थ ही बहस में उलझना नहीं चाहता था। ध्यान का विषय ही इतना गंभीर है, और तिसपर किसी नितांत श्रद्धाशून्य, शंकालु व्यक्ति से की गयी उसकी चर्चा कैसे सार्थक, सफल हो सकती है? अतः एक और धर्म समझा सकने की अपनी शक्ति-सीमा को जानते हुए, और दूसरी ओर अन्य किसी मत के अनुयायी राजकुमार की वादविवादी वृत्ति को ध्यान में रखते हुए श्रामणेर अग्निवेशने धर्मचर्चा करने के लिए एक शर्त रखी। वह यह कि मैं जो धर्म समझाऊं, उसे सुनकर यदि वह तुम्हारी समझमें आ जाए तो ठीक, वरना तुम भले अपने मत में स्थिर बने रहना परंतु इस वार्तालाप को वहीं स्थगित कर देना। तदनंतर और बातें पूछकर व्यर्थ वादविवाद मत बढ़ाना।

राजकुमार ने यह शर्त मान ली और श्रामणेर ने उसे धर्मदेशना दी। इसे सुनकर राजकुमार ने कहा कि अवितर्क, अविचार चैतसिक एकाग्रता प्राप्त की जानी संभव नहीं है और वह "असंभव, असंभव" कहता हुआ वहां से उठकर चल दिया।

हम नहीं जानते कि श्रामणेर ने राजकुमार जयसेन को क्या धर्मदेशना दी। परंतु यह अनुमान सहज ही किया जा सकता है कि, उसने चारों ध्यान-समापत्तियों के साथ, विपश्यनाजन्य परममुक्त अवस्था प्राप्त करने का विवरण न भी दिया होगा तो भी इतना तो अवश्य समझाया होगा कि किस प्रकार ध्यानी साधक,

वितक्कविचारानं वूपसमा – वितर्क और विचारों का उपशमन होने पर,

अज्झत्तं सम्पसादनं चेतसो एकोदिभावं –आंतरिक ,प्रसन्नता^ भरी, चित्त एकाग्रता प्राप्त करके,

अवितक्कं अविचारं समाधिजं पीतिसुखं उपसम्पज्ज विहरति – निर्वितर्क ,निर्विचार समाधि से उत्पन्न प्रीति (चैतसिक आनंद) और सुख (कायिक सुख) वाली दूसरी ध्यान-समापत्ति में विहार करता है।

राजकुमार जयसेन का यही प्रश्न था कि क्या निर्वितर्क ,निर्विचार चित्त-एकाग्रता प्राप्त हो सकती है? इससे आगे की ऊंची अवस्थाओं को जानने की उसकी कोई रुचि भी नहीं थी, अतः संभव है उसे इतना ही समझाया हो। परंतु साथ-साथ यह तो स्पष्ट किया ही होगा कि इस दूसरे ध्यान की उपलब्धि के पूर्व प्रथम ध्यान की उपलब्धि आवश्यक है जो कि **सवितक्कं सविचारं** होता है, यानी जिसमें वितर्क-विचार तो चलते हैं परंतु वे

विविच्चेव कामेहि विविच्च अकुसलेहि धम्मेहि –

यानि कामभोग के तथा अन्य अकुशल धर्मों के चिंतन से विमुक्त होते हैं। प्रथम ध्यान में संकल्प-विकल्प,चिंतन-मनन सर्वथा निरुद्ध नहीं होते। परंतु जो विचार चलते हैं वे सम्यक होते हैं; धर्ममयी कुशल चेतना पर आधारित होते हैं। मन को विकारों से विकृत करनेवाले सभी चिंतन अकुशल होते हैं। ध्यान के लिए सभी अकुशल चिंतन त्याज्य होते हैं। परंतु कामभोग का चिंतन तो सर्वाधिक अकुशल होता है। अतः इसे त्यागना नितांत अनिवार्य होता है। तभी कहा गया –**विविच्चेव कामेहि**। कामभोग के चिंतन-मनन से विमुक्त हुए बिना प्रथम ध्यान की भी उपलब्धि नहीं हो पाती, द्वितीय ध्यान तो दूर रहा।

और फिर यह भी स्पष्ट किया होगा कि प्रथम ध्यान-समापत्ति की उपलब्धि के लिए पहले पांच नीवरणों यानी आवरणों यानी अवरोधकों को दूर कर लेना आवश्यक होता है। ध्यान के इन पांच अवरोधकों में भी कामछन्द यानि कामभोग की एषणा ही प्रथम और प्रमुख है। कामभोग की लालसा बनी रहे, तो प्रथम ध्यान के लिए उचित भूमिका ही तैयार नहीं होती। प्रथम ध्यान तो दूर ही रहता है। अवितर्क, अविचारजन्य चित्त-एकाग्रता वाला द्वितीय ध्यान तो बहुत ही दूर रहता है।

पांच नीवरणों से छुटकारा पाने के लिए पांचों शीलों का पालन करना आवश्यक होता है। गृहत्यागी संन्यासी हो तो उसे कामभोग से सर्वथा विमुक्त रहकर,सदैव अखंड ब्रह्मचर्य का पालन करना होता है। गृहस्थ हो तो कामभोग संबंधित मिथ्याचरण से यानि व्यभिचार से सदैव विरत रहना होता है। गृहस्थ दंपति को सप्ताह में उपोसथ के एक दिन के अतिरिक्त जितने दिनों ध्यान का अभ्यास करने के लिए किसी ध्यानकेंद्र में रहे, उतने दिनों अनिवार्यतः अखंड ब्रह्मचर्य का पालन करना होता है जिससे कि आगे चलकर सदगृहस्थ रहते हुए भी सहज भाव से सदैव ब्रह्मचर्य का जीवन जीते हुए कामभोग के क्षेत्र से सर्वथा मुक्त हो सके। कामभोग के विकारों से विमुक्त हुए बिना, अन्यान्य मनोविकारों से विमुक्त हो सकना असंभव है। और मनोविकारों से विमुक्त हुए बिना, कोई मिथ्या जड़-समाधि भले प्राप्त कर ले, सम्यक-समाधि प्राप्त करना सर्वथा असंभव है। स्पष्ट है कि राजकुमार जयसेन को यह सब रास नहीं आया इसीलिए वह "असंभव, असंभव" कहता हुआ चला गया।

जब यह सारा वृत्तांत भगवान बुद्ध तक पहुँचा तो उन्होंने कहा – ध्यान की यह अवस्था कामभोगों से विरत होकर ही प्राप्त हो सकती है। कामभोगों में निरत-निमग्न रहता हुआ, कामवितर्कों में खज़ता हुआ, कामाग्नि में जलता हुआ, कामभोग की खोज में सदा चिंतामग्न रहता हुआ राजकुमार जयसेन इसे प्राप्त कर सकेगा,इसका साक्षात्कार कर सकेगा,इसकी जरा भी संभावना नहीं है। सचमुच उसके लिए यह असंभव ही है।

हम नहीं जानते कि राजकुमार जयसेन स्वयं अत्यंत कामातुर होने के कारण चंद दिनों के लिए भी कामभोग से विरत रहकर ध्यान की यह कल्याणी विद्या एक बार आजमाकर भी नहीं देख पाया अथवा वह किसी ऐसे गुरु के चंगुल में फँसा था, जो कि शील-सदाचार का पालन करना निरर्थक मानता था और कामभोगों के रसास्वादन में सदा निमग्न रहने को बुरा नहीं मानता था।

भगवान बुद्ध के जीवनकाल में छः अन्य प्रमुख धर्माचार्य थे। उनमें से चार ऐसे थे, जो किसी भी सत्कर्म या दुष्कर्म का सत्फल या दुष्फल प्रकट होना नहीं मानते थे। वे न यम, नियम, संयम और सदाचार को अच्छा मानते थे और न ही शीलभग्न जीवन को बुरा मानते थे। वे आचार्य थे – पूर्ण काश्यप, मक्खलि गोसाल, अजित केशकम्बलऔर प्रक्रुध कात्यायन। तत्कालीन भारतीय समाज में शील सदाचार के स्थान पर इस प्रकार उन्मुक्त दुराचरण को बढ़ावा देनेवाले इन तथाकथित धर्माचार्यों के भी उन दिनों अनेक अनुयायी और प्रशंसक थे। ये चारों के चारों,

सङ्घीचेव गणी च गणाचरियो च, ञातो, यसस्सी तित्थकरो साधुसम्मतो बहुजनस्स – यानी संघपति थे, गणपति थे, गणाचार्य थे, ज्ञानी माने जाते थे, यशस्वी थे, अपना अपना संप्रदाय स्थापित करने वाले तीर्थंकर थे, बहुत लोगों द्वारा साधु माने जाते थे।

आश्चर्य है, दुराचार के पोषक होते हुए भी वे इतने लोकप्रिय और यशस्वी कैसे हो गये! और इतनी बड़ी संख्या में उनके अनुयायी भी कैसे हो गये! अवश्य ही वे सब के सब अत्यंत आकर्षक भव्य व्यक्तित्व के धनी रहे होंगे और लच्छेदार भाषा में लोगों को आध्यात्म तथा ध्यान की ऊंची-ऊंची बातें कहने में चारुवाक (चार्वाक) रहे होंगे। इन्हीं आकर्षणों के बल पर इतनी बड़ी संख्या में लोगों को ठगने में सफल रहे होंगे। भारत में जहां सौभाग्य से समय समय पर, एक ओर शील सदाचार संपन्न संत श्रमण और ब्राह्मण उत्पन्न होते रहे हैं, वहां दुर्भाग्य से समय समय पर ऐसे वाकपटु चार्वाक भी उत्पन्न होते रहे हैं। लगता है, अभागा राजकुमार जयसेन ऐसे किसी धूर्त आचार्य के चंगुल में फँसकर कल्याणकारी विशुद्ध धर्म के मार्ग से सर्वथा वंचित रह गया। भगवान बुद्ध के जीवन काल में, एक बुद्धभक्त राजपरिवार में जन्म ले कर और राजगृह में उनके इतने समीप निवास करते हुए भी भगवान से संपर्क न कर सका और अपना मंगल कल्याण न साध सका।

कल्याण मित्र
स. ना. गो.